महाभारत में भारतीय संस्कृति – एक पुस्तक समीक्षा

डॉ. रचना श्रीवास्तव

एसोसिएट प्रोफेसर
ए.पी. सेन मेमोरियल गर्ल्स पी.जी. कालेज
चारबाग, लखनऊ, भारत

डॉक्टर सुजाता कुमारी व्याख्याता विनोबा भावे विश्वविद्यालय हजारीबाग द्वारा लिखित एवं संजय प्रकाशन दिल्ली द्वारा 'महाभारत में भारतीय संस्कृति' (वनपर्व के संदर्भ में) शीर्षक पुस्तक में महाभारत के तृतीय पर्व के संबंध में समीक्षात्मक अध्ययन आठ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक मे संस्कृति, व्यास, वर्णाश्रम व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शासन व्यवस्था, सैन्य व्यवस्था, पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति, संस्कार, रहन-सहन, रीति, प्रथा, राजनीत एवं न्याय प्रणाली, शस्त्रास्त्र, पुरुषार्थ, शिक्षा, धर्म, दर्शन, नैतिक मूल्य और सदाचार उपशीर्षको के अंतर्गत विस्तृत विवेचन करते हुए महाभारत के तृतीय पर्व वनपर्व के संदर्भ में टिप्पणी अंकित की गई है। इस समय प्रचलित महाभारत को महाकाव्य, इतिहास और पंचम वेद की श्रेणी में कैसे और क्यों रखा गया है और आज की कसौटी में वह खरी उतरती है या नहीं, इसका विश्लेषण किया गया है। शीर्षको एवं उपशीर्षको में विषय वस्तु को विभाजित किए जाने से सुगम्यता एवम स्पष्टता रहती है और पाठकों को विषय वस्तु को समझने में सुविधा होती है इससे तथ्यो के आकलन करने का सम्यक ज्ञान प्राप्त होता है। इस पुस्तक में वनपर्व में हुई घटनाओं के आधार पर प्रत्येक उपशीर्षक वार निष्कर्ष निकाला गया है जो रचनाकार की सोच को प्रदर्शित करता है।

प्रथम अध्याय में संस्कृति शब्द का अर्थ उसके आयाम तथा विधाओं से संबंध का उल्लेख करते हुए व्यास का परिचय व उनकी कृतियों का विवरण है। इसी अध्याय में आद्य महाभारत के अठारह पर्वो का विवरण देते हुए वनपर्व के अंतर्गत आने वाले बाइस पर्वो एवं उनके महत्व का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में वर्ण विवेचन, वर्ग वर्गीकरण का आधार, वर्णों के कार्य तथा वनपर्व में वर्णों की स्थिति एवं वनपर्व में चित्रित वर्णों के आधार का विवेचन किया गया है। इसी अध्याय में आश्रम व्यवस्था, आश्रम वर्गीकरण के आधार देते हुए वनपर्व मे आश्रमों की स्थिति का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में परिवार एवं समाज का विवेचन करते हुए वनपर्व में परिवार तथा विभिन्न समाजों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में ही संस्कार, रहन-सहन, रीति, प्रथा, नगर ग्राम व अरण्य संस्कृति, मनुष्य, आसुर, देव, गंधर्व, आदि की संस्कृतियों का विवेचन करते हुए उनके वनपर्व की घटनाओं से संबंध स्थापित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में शासन व्यवस्था, शासन के अंग, सैन्य व्यवस्था, सेनाओं का वर्गीकरण, युद्ध प्रक्रिया का वर्णन करते हुए वनपर्व से संबंध स्थापित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में ही शास्त्रों एवं अस्त्रों का विवेचन, राजनीतिक एवं न्याय प्रणाली, राजा-प्रजा संबंध एवं राजाओं के आमोद प्रमोद किए जाने हेतु विधाओ का वर्णन किया गया है। पंचम अध्याय में पुरुषार्थ, अर्थ का वर्गीकरण, वनपर्व में आर्थिक स्थिति, राजकीय धन और उसके सामाजिक उपयोग का उल्लेख करते हुए कृषि, पशुपालन व वाणिज्य को वनपर्व की घटनाओं से जोड़ा गया है। षष्टम अध्याय में शिक्षा विवेचन, शिक्षा के रूप, शिक्षक एवं विद्यार्थी संबंध, राजकुल एवं गुरुकुल का उल्लेख करते हुए चतुर्दश विद्या, काव्य कला, संगीत कला तथा वास्तुकला से वनपर्व का संबंध स्थापित किया गया है। सप्तम अध्याय में धर्म का विवेचन, धर्म के विविध रूप, यज्ञ प्रक्रिया तथा विविध धर्मों एवं वन पर्व का विवरण अंकित किया गया है। इसी अध्याय में दर्शन विवेचन करते हुए विविध धर्मों का वर्गीकरण एवं वन पर्व के अति प्राकृतिक तत्वों का उल्लेख किया गया है। अष्टम अध्याय में नीति विवेचन, नैतिक मूल्य एवं वनपर्व, नारी एवम वनपर्व की संस्कृति, नारी के विविध रूप, नारी एवं पतिव्रता धर्म, अतिथियों की स्थिति, यज्ञ व दान का महत्व तथा सदाचार का विवेचन करते हुए उसका वनपर्व से निष्कर्ष बताया गया है।

महाभारत का परिचय

महाभारत के रचनाकार महर्षि व्यास थे जिनकी माता का नाम सत्यवती तथा पिता का नाम पाराशर मुनि था। जन्म के पश्चात किसी द्वीप पर त्याग दिए जाने तथा शरीर के वर्ण के कारण कृष्ण द्वैपायन इनका नाम हुआ। इन्होंने एक वेद को चार सन्हिताओ में विभाजित किया जिससे वेदव्यास कहलाए। विभिन्न पुराणों के प्रवचन कर्ताओं के रूप में ब्रह्मा से लेकर कृष्ण

द्वैपायन तक लगभग 26 से लेकर 32 व्यास नामधारी व्यक्ति हुए हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास परंपरा के अंतिम व्यक्ति होने चाहिए। ऐसा आभासित होता है कि व्यास एक पदवी थी जो तदनुरूप कार्य करने के कारण दी जाती थी। व्यास अर्थात वर्गीकरण करने वाला जिसने वेदों पुराणों का विभाग, संपादन, प्रकाशन या पुनः संस्करण किया हो वही व्यास की पदवी से विभूषित हुआ। कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास का एक नाम बादरायण भी था। व्यास ने समग्र ज्ञान को चार संहिताओ और इतिहास में विभक्त कर वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए एक वैज्ञानिक प्रणाली का सूत्रपात किया।

महाभारत एक इतिहास है और इसे पंचम वेद भी कहा गया है। इस काव्य मे श्रीगणेश जी द्वारा वेदव्यास ने 8,800 श्लोको को लिपिबद्ध कराया परंतु अनेकानेक प्रक्षेपकारो के अनगिनत प्रेक्षपो को समावेशित कर एक लाख श्लोक वाले उत्तम ग्रंथ को "आद्यभारत" आज का प्रचलित महाभारत बनाया। महाभारत एक महाकाव्य ही नहीं वरन पूर्ण साहित्य है। भारतीयों के लिए महाभारत नीतिशास्त्र, धर्म, दर्शन एवं अर्थशास्त्र है। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय पांडवों और कौरवों के मध्य हुए युद्ध का वृतांत है। आज प्राप्त महाभारत 18 पर्वों में विभक्त तथा हरिवंश पर्व सहित 19 पर्वो वाला एक नैतिक ग्रंथ है। 18 पर्व निम्न है।

1. आदि पर्वः इसमे 227 अध्याय, 8884 श्लोक, 19 अनुपर्व है। इसमें उत्तंक, भृगुवंश, भरतवंश, पूरुवंश, पांडुवंश का उल्लेख है।
2. सभा पर्वः इसमे 78 अध्याय, 2511 श्लोक, 10 अनुपर्व है। इसमें खांडवप्रस्थ में अद्भुतसभा के निर्माण से लेकर द्यूतक्रीडा में हारकर बारह वर्षों का वन्य जीवन तथा एक वर्ष का अज्ञातवास का वर्णन है।
3. वनपर्वः इसमे 269 अध्याय, 11664 श्लोक, 22 अनुपर्व है इसमें पांडवों के 12 वर्ष वन में बिताने के दौरान घटी घटनाओं का विवरण है।
4. विराटपर्वः इसमे 67 अध्याय, 2050 श्लोक, 5 अनुपर्व हैं। इसमें पांडवों के अज्ञातवास का वर्णन है।
5. उद्योगपर्वः इसमे 186 अध्याय, 6698 श्लोक, 8 अनुपर्व है। इसमें राजा विराट के यहां पांडव के पक्ष में युद्ध करने की सहमति से लेकर अंबा के दूसरे जन्म में शिखंडी बनने का वर्णन है।
6. भीष्मपर्वः इसमे 117 अध्याय, 5864 श्लोक, पांच अनुपर्व हैं। इसमें युद्ध संबंधी नियमों का निर्धारण तथा भगवतगीता से भीष्म के सरसैया पर पड़ने तक की कथा का वर्णन है।
7. द्रोण पर्वः इसमे 170 अध्याय, 8909 श्लोक, 8 अनुपर्व हैं इसमें द्रोणाचार्य को सेनापति बनाए जाने से द्रोणवध तक की घटनाओं का वर्णन है।
8. ह्रदय प्रवेश पर्वः इसमें बची हुई कौरव सेना के संहार तथा दुर्योधन के सरोवर में छिपने का प्रसंग है।
9. गदापर्वः इसमें दुर्योधन का भीम से गदा युद्ध तथा अश्वत्थामा के सेनापति बनने की कथा वर्णित है।
10. सौप्तिक पर्वः इसमे 18 अध्याय, 870 श्लोक, दो अनुपर्व है। इसमें अश्वत्थामा द्वारा पांडवों के शिविर में सोते समय आक्रमण करना तथा दुर्योधन के प्राण त्याग एवं अश्वत्थामा अपनी मणि से वंचित होकर श्री कृष्ण द्वारा शापित वन को प्रस्थान करने का वर्णन है।
11. स्त्री पर्वः इसमे 27 अध्याय, 775 श्लोक, 3 अनुपर्व है। इसमें धृतराष्ट्र व गंधारी के रणभूमि को प्रस्थित होने से लेकर युधिष्ठिर द्वारा समस्त वीरों का दाह संस्कार करना जिसमें कर्ण के जन्म की कथा ज्ञात होने पर युधिष्ठिर द्वारा समस्त स्त्री जाति को शाप देने की कथा का वर्णन है।
12. शांति पर्वः इसमे 339 अध्याय, 14732 श्लोक, 3 अनुपर्व है अध्याय के हिसाब से महाभारत का यह सबसे बड़ा पर्व है। इसमें युधिष्ठिर के राजा बनने हेतु विभिन्न व्याख्यान है।
13. अनुशासन पर्वः इसमे 146 अध्याय, 8000 श्लोक, दो अनुपर्व हैं। इसमें भीष्म स्वर्गारोहण का विवरण है।
14. आश्व्मेघिक पर्वः इसमे 103 अध्याय, 3320 श्लोक, तीन अनुपर्व हैं। इसमें युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान करने का वर्णन है।
15. आश्रमवासिक पर्वः इसमे 42 अध्याय, 1506 श्लोक, तीन अनपर्व हैं। इसमें धृतराष्ट्र और गांधारी का वानप्रस्थ आश्रम एवं कुंती सहित दावानल में दग्ध होने का वर्णन है।
16. मौसल पर्वः इसमे 8 अध्याय, 320 श्लोक है। इसमें यादवों के विनाश की कथा है।
17. महाप्रस्थानिक पर्वः इसमे 3 अध्याय, 123 श्लोक वाला यह सबसे छोटा पर्व है। इसमें यदुवंशियों का श्राद्ध करके द्रोपदी सहित पांडवों के महाप्रस्थान करने का वर्णन है।
18. स्वर्गारोहण पर्वः इसमे 5 अध्याय, 209 श्लोक का अंतिम पर्व है। युधिष्ठिर का नरक का दर्शन कराना, युधिष्ठिर का नरक में रहने का निर्णय करना, इंद्र द्वारा शांत कराए जाने पर देह त्याग कर दिव्य लोक में जाने का वर्णन है।

सृष्टि कि उत्पत्ति

श्री मद्भागवत के अनुसार सृष्टि आठ प्रकार की है। ब्रह्मा द्वारा रात्रि रूपी शरीर से यक्ष-राक्षस, दिन रूपी शरीर से देवता, कांतिमयी मूर्ति से गंधर्व व अप्सरा, तंद्रारूप से भूत-पिशाच, तेजोमय रूप से साध्यगण-पित्रगण, तिरोधान रूप से सिद्ध-विद्याधर, सुंदर प्रतिबिंब से किन्नर-किम्पुरुष तथा मन से मनुओ की सृष्टि की। सभी के लिए दिन रात का परिमाण अलग अलग था। देव संस्कृति में गंधर्व, यक्ष, अप्सरा आदि विभिन्न सृष्टियो के संस्कारों का मिश्रण है।

संस्कृति

संस्कृति शब्द का शाब्दिक अर्थ अलंकृत सम्यक् कृति है अर्थात जिन कृतियों एवं चेष्टाओ से मानव अपने जीवन में उन्नत करता हुआ आनंद प्राप्त की व्यवस्था करता है। प्राचीन काल में संस्कृति के सहकर्मी शब्द संस्कार एवं संस्क्रिया थे। संस्कार का अर्थ मन:शक्ति, अंतःशुद्धीकरण, शिक्षा, प्रशिक्षण, अनुशीलन इत्यादि हैं। संस्कृति में सभ्यता व उसका विकास, ज्ञान-विज्ञान के साधन, आध्यात्मिक व पारलौकिक चिंतन तथा मानव अंतर्मन अंतर्निहित है। संस्कृति चिरंतन एवं सास्वत है तथा एक संचरणसील प्रक्रिया है जो आवश्यकताअनुसार अन्वेषण से समाज को गति, संगति एवं प्रसारण देती है तथा निरंतर संवर्धित होने से संरक्षण एवं स्थायित्व प्रदान करती है। अभ्यास एवं अनुकरण संरक्षण के अन्यतम साधन हैं। संस्कृति सास्वत है किंतु सभ्यता मरणशील है। समाज, धर्म, संस्कृति के संदर्भ में सभ्य की धारणाएं निर्णीत होती हैं। प्रकृति के उपकरणों का संयोजन सभ्यता का लक्षण है। जीवन की सार्थकता हेतु मूल्यों का नियमपूर्वक पालन सभ्यता है। अंतःवृत्ति का संस्कार, शीलाचरण संस्कृति का मूल आधार है। भौतिक साधनों को अधिकृत करना सभ्यता का परिचायक है और आंतरिक वृतियो पर सहज विजय प्राप्त करना संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति के संदर्भ में संस्कृति का अर्थ है बिना जडवत हुए तथा ज्ञान का मार्ग ढूंढते हुए आगे बढ़ते रहना यथा सारे धर्मों का, कालो का, जातियों का, ज्ञान-विज्ञान का, मेल करते हुए अद्वैत का दर्शन। अद्वैत का अर्थ है ऐसी भावना का संचार कि मेरे जैसा दूसरा है। सृष्टि से भी अद्वैत की शिक्षा मिलती है। सर्वस्व अर्पण करना ही अद्वैत की दीक्षा है। भारतीय संस्कृति का बीज वेदों में छिपा है। वेद का अर्थ है ज्ञान। अतएव भारतीय संस्कृति का उद्भव ज्ञान से हुआ है। अनंत वेद के आकाश के नीचे सनातन संस्कृति का विकास हुआ। इसके अनुसार विचार पूर्वक व्यवहार कीजिए, देखकर कदम बढ़ाइए तथा छानकर पानी पीजिए। संयम भारतीय संस्कृति की आत्मा है। संयम धारण करने पर निष्काम कर्म की प्रेरणा जागृत होती है। संयम का पाठ सद्गुरु से प्राप्त होता है। शिष्य के सत्य और विनम्रता से प्रस्तुत होने पर गुरु शिष्य को ज्ञान देता है। गुरु सत्य को महत्ता देता है। शिष्य के जाति, कुल, गोत्र, गौण होते हैं। भारतीय संस्कृति व्यापक है, इसके विचार में चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं। धर्मपूर्वक अर्थ और काम का भोग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भारतीय संस्कृति का ध्येय सभी सुखी हो, निरोगी हो, सभी का कल्याण हो, किसी को दुख का भागी न होना पड़े। भारतीय संस्कृति में मनुष्य जन्मत: तीन ऋण - पितृ ऋण, ऋषि ऋण, ईश्वर ऋण - लेकर उत्पन्न होता है। ऋषि ऋण हेतु ब्रम्हचर्यास्रम (उत्तम ज्ञान), पितृ ऋण हेतु गृहस्थाश्रम तथा ईश्वर ऋण हेतु वानप्रस्थ व सन्याश्रम में प्रवेश कर ऋण मुक्त हुआ जा सकता है। भारतीय संस्कृति में पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, निर्जीव आदि से भी मानव संबंध स्थापित करती है। भारतीय संस्कृति में स्वास्थ्य हेतु योग, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, उच्च कोटि का खाद्यान्न, स्वच्छता, त्याग, पवित्रता के साथ साथ सौंदर्य, अध्यात्म एक अन्यतम अंग है। भारतीय संस्कृति का संबंध धर्म, दर्शन और विज्ञान से है जो मानव की व्याख्या के विविध प्रकार हैं तथा इन तीनों में साम्यभाव रहता है। ये तीनो मानव की आध्यात्मिक व मौलिक आवश्यकताओं के पूरक हैं। भारत में मोक्ष पाना परम लक्ष्य है। धर्म, दर्शन और विज्ञान के विभिन्न सिद्धांतों द्वारा ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया जाता है।

नगर, ग्राम व अरण्य संस्कृति

भारत में नगर संस्कृति का सूत्रपात प्राकवैदिक काल में हो चुका था। जब आर्य भारत में आए तो उन्होंने ग्रामो की स्थापना की। नगर व ग्राम्य संस्कृति में रहने के आवासीय संरचना में अंतर था किंतु अन्य स्थितियां वर्ण, आश्रम, खान-पान, रहन-सहन, विवाह, स्त्रियों की स्थिति एक जैसी थी। भारत में अरण्य संस्कृति को अधिक महत्व प्रदान किया गया है, उनमें वानप्रस्थी और आदिवासी रहते थे। अरण्य में ऋषि मुनियों का समाज रहता था जो योग, तप, साधना आदि में संलग्न रहते थे। ये लोग कंद मूल फल आदि पर निर्भर रहते थे। अनार्य अरण्यो के मूल निवासी थे जो आखेट से जीविकोपार्जन करते थे। इनमें

भील, किरात, निषाद आदि का वर्णन है। आज भी तीनों संस्कृति विद्यमान हैं। नगर से अरण्य की ओर जाने पर सुख सुविधाओं का ह्रास और जीवन शैली दुरूह हो जाती है।

संस्कार

महाभारत में वर्णित है कि जन्म से सभी शूद्र है। संस्कार से उन्हें द्विजत्व प्राप्त होता है। संस्कार का अर्थ है शिक्षा, अनुशीलन, प्रशिक्षक आसज्ञा, श्रृंगार, अभिमंत्रण, अंत:शुद्धिकरण इत्यादि। सोलह संस्कार: गर्भाधान, पुसंवन, सिमांतोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णभेदन, विद्यारंभ, उपनयन, वेदारम्भ, केशांत या गोदान, समावर्तन, विवाह, अंत्येष्टि संस्कार होते हैं।

पुरुषार्थ

भारतीय धर्म शास्त्र में पुरुषार्थ चार विवेचित हैं धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। मोक्ष पुरुषार्थ का अति विशिष्ट अंग है किंतु सर्वसाधारण के लिए नहीं है बल्कि मुमक्षुओ के लिए है। व्यवहारिक जीवन में त्रिवर्ग – धर्म, अर्थ और काम - का ही महत्व है। जीवन धारण करना प्राणी का मुख्य धर्म है। अर्थ के बिना जीवन धारण करना कठिन है। बिना किसी कामना के कोई जीव इस भूतल पर कार्य नहीं करता है। कामना से प्रेरित होकर ऋषिगण तप करते हैं तथा वायुपान एवं इंद्रियों को संयमित करते हैं। कामना से वेदाध्ययन, यज्ञ, दान आदि में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। सामान्य व्यवहार में अर्थ की महत्ता श्रेयस्कर है। कौटिल्य के अनुसार अर्थ इस जगत के व्यापार की धुरी है।

रहन-सहन, रीति, प्रथा

पुरुषों के परिधान स्त्रियो के प्ररिधानो से मिलते जुलते थे। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। अरण्य के निवासी आखेट से मारे गए जानवरों की खाल पहनते थे। तात्कालिक समाज में स्वयंवर का आयोजन कन्या द्वारा वर्ग के चयनार्थ किया जाता था। तत्समय ब्रह्म विवाह, आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, गंधर्व विवाह तथा राक्षस विवाह की प्रथा प्रचलित थी। यद्यपि द्यूत क्रीडा निंदनीय थी फिर भी राजाओं का द्यूत के प्रति झुकाव था। एक राजा द्वारा द्यूत क्रीडा के आमंत्रण को दूसरा राजा अस्वीकार नहीं कर सकता था किंतु कोई कुलीन व्यक्ति मध्यस्था करके इस क्रीडा को रोक सकता था।

वर्णाश्रम व्यवस्था

जलप्लावन के पूर्व वर्ण व्यवस्था का उल्लेख नहीं है। जलप्लावन की कथा कुछ परिवर्तनों के साथ महाभारत, मत्स्यपुराण, श्रीभागवतकथा व अग्निपुराण में वर्णित है। इस कथा में जलप्लावन / प्रलयारम्भ में एक नौका पर वनस्पति, प्राणियो व सप्तर्षी को लेकर एक मछली सबकी रक्षा करती है। जलप्लावन की कथा, ग्रीक, फ्रांस, अमेरिका, मेक्सिको, पेरू, चीन, वर्मा, कोचीन, मलाया, ऑस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मलेशिया, पालीनेसिया, मिक्रोनेसिया आदि देशों में भी पाई जाती है। जलप्लावन के पूर्व अनुमानत: मनुष्य एक ही स्थान पर रहता था आवश्यकता व प्रकृति के विधान ने उन्हे फैलने व अलग अलग रहनेपर विवश किया इसलिये प्रत्येक समाज मे यह कथा कही गयी। जलप्लावन के पूर्व मानव समुदाय के इतिहास व संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का अवशिष्ट चिन्ह उपलब्ध नहीं है। कालांतर में जन समुदाय देव व असुर दो भागों में विभाजित हो गया। दोनों एक ही पिता की संतान थे। दोनों जनों में परस्पर सौहार्द एवं सहानुभूति वहुकाल तक थी। दोनों सम सभ्यताभिमानी थे। दोनों ही अग्नि/होम की उपासना करते थे। ऋग्वेद में भी आर्य एवं आर्यातिरिक्त लोगों को अग्नि उपासक बताया गया है। इस प्रकार आर्य व असुर समानधर्मी थे और स्पर्धा सदैव समान धर्मियो के मध्य होती है। युद्ध में कभी आर्यो की और कभी असुरों की विजयश्री होती थी। यह संघर्ष ही वर्ग वर्गीकरण का कारण बना। वर्ग का शाब्दिक अर्थ रंग होता है जिसका प्रयोग आर्य एवं आर्यतर लोगों में भेद करने के लिए किया जाने लगा। बाद में आर्य समाज चतुर्वर्ण समाज बना।

वर्ण

मनुष्य ज्ञान व विवेक संपन्न सामाजिक प्राणी है। वह अपने जीवन की रक्षा करने, दूसरों की सहायता व सेवा करने, जीवन उपयोगी पदार्थों को एकत्र करने हेतु व्यापार करने तथा उपासना आदि कार्यो को करता है। उपासना करना ब्राह्मणत्व, रक्षा करना क्षत्रियत्व, व्यापार करना वैश्यवृत्ति तथा सेवा करना शूद्रत्व है। इस प्रकार हर मानव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है। संपूर्ण पृथ्वी के किसी समाज में इस चातुर्वणिक व्यवस्था का दर्शन नहीं होता है। भारत में कर्म को आधार माना गया है। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्मज्ञाता या संपूर्ण ज्ञान का जानकार। महाभारत के अनुसार सबसे पहले ब्राह्मण उत्पन्न हुए फिर वह

कर्मानुसार विभिन्न वर्गों को प्राप्त हुए। कालांतर में युद्ध की आवश्यकता ने समाज को दो भागों में विभक्त कर दिया। युद्ध कला की स्वतंत्र आवश्यकता आगे चलकर क्षत्रिय वर्ण की जननी हुई। युद्ध में प्रवृत्त जनों के लिए यज्ञ का विधान कठिन था किंतु यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति की कामना बनी रही। इस प्रकार क्षत्रिय और ब्राह्मणों में सहयोग या सहकारिता का संबंध बना। कठोपनिषद काल में इन्हीं दो वर्णों में समाज विभाजित था। दोनों वर्णों में भेदभाव धीरे धीरे बढ़कर रूढि का रूप धारण करने लगा। महाभारत के शांति पर्व के अनुसार भी केवल दो वर्णों के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी चतुर्वर्ण व्यवस्था की पुष्टि नहीं होती है। भृगुसन्हिता के अनुसार संपूर्ण जगत ब्रह्ममय में था। जो रजोगुणी ब्राह्मण क्रोधी व साहसी थे वह क्षत्रिय हुए। जो ब्राह्मण रजो एवं तमोगुणी मिश्रण के कारण पशुपालन व कृषि कार्य करने लगे वे वैश्य हुए। हिंसा व झूठ के प्रेमी होने के कारण तमोगुणी शूद्र हुए। महाभारत के खिलपर्व में कहा गया है कि एक ही भार्गववंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उत्पन्न हुए। उस समय चतुर वर्ण व्यवस्था में रूढि धर्म का विकास नहीं हुआ था। सभी वर्णों को समान अधिकार प्राप्त थे। अर्थात शूद्र विद्या प्राप्त करने के अधिकारी थे। प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था कठोर नहीं थी। कोई भी अपने कर्म व स्वभाव के अनुसार किसी वर्ग को ग्रहण कर सकता था। वर्ण व्यवस्था हिंदू समाज की एक ऐसी विशेषता है जो अन्य किसी देश में नहीं है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत कार्य का विभाजन हमारे पूर्वजों ने समाज के सभी कार्यों को सुचारु पूर्वक चलाने के लिए किया था। किंतु कुछ स्वार्थी व शक्तिशाली लोगों ने शूद्रों का शोषण किया जो सामजिक विषमता का कारण बना। आधुनिक काल में वर्ण व्यवस्था को सामाजिक विषमता तथा भारतीय समाज का दोष माना जाता है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत एक ऐसा समुदाय था जो दैहिक सुखों के त्याग, वासनाओं के दमन तथा प्राचीनतम उत्कृष्ट साहित्य की रक्षा में लगा हुआ था और अंतिम प्रयाण करने के पूर्व सतत अपने पुत्रों व शिष्यो को इस अमूल्य निधि को संरक्षक योग्य बनाता था। भारतीय चतुरवर्ण व्यवस्था श्रम कार्य विभाजन पर आधारित है। भारतीय धर्म शास्त्रों में मानव अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार कार्य में संलग्न होने पर विशेष ध्यान दिया है क्योंकि तभी वह कार्य में दक्षता प्राप्त कर सकता है और दक्ष व्यक्तियों से ही उत्तम समाज का निर्माण होता है।

महाभारत में वर्णों की स्थिति

ऋगवैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म था। शनै: शनै: सामाजिक कटुता के समावेश से एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के कर्म को निकृष्ट प्रमाणित करने लगे। सर्परूपधारी नहूष व युधिष्ठिर संवाद में युधिष्ठिर ने कहा कि जिसमें सत्य आदि के लक्षण हो वही ब्राह्मण है और जिसमें सत्य का अभाव हो उसे शूद्र कहना चाहिए। यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था कि ब्राह्मणत्व आचार से प्रकट होती है कुल, स्वाध्याय व शास्त्रश्रवण से नहीं। कोई दुराचारी यदि चारों वेदों का ज्ञाता हो, शास्त्र श्रवण करता हो और कितने ही उच्चकुल में जन्मा हो वह शूद्र ही कहलाएगा। कई स्थल पर ब्रामह्ण क्षत्रियोचित कर्म करते हैं जिसमें परशुराम अग्रज हैं। अनेक क्षत्रियों में ब्राह्मणोचित कर्म करने की प्रवृति थी जिनमें युधिष्ठिर व सत्यवती के भ्राता मुख्य हैं। अनेक वैश्य क्षत्रियों का कर्म करते थे जैसे यदुवंशी। शूद्र भी ब्राह्मणोचित एवं क्षत्रियोचित कर्म किया करते थे जैसे सूतपुत्र कर्ण तथा यवक्रीत। महाभारत काल में एक तरफ कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था मान्य थी वहीं दूसरी ओर जन्म को भी वर्ण व्यवस्था का आधार मान्य होने लगा था। धर्म ब्याघ आचार से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर चुका था किंतु वंशानुगत मांस विक्रय करता था। युधिष्ठिर कहते हैं कि जो मानव जाति कर्म, संस्कारों व वेद अध्ययन के पश्चात भी कदाचार करते हैं तो उनमें वर्ण संकरता है। महाभारत काल में विवाहों के प्रति उदारता की नीति थी। आर्येतर नारिया आर्यो के गृहों में पूर्ण आदर पाती थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के अनुसार संतान की जाति का निर्धारण किया जाने लगा। क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रो में परस्पर अनुलोम व प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान शूद्र हुई। ब्राह्मण एवं अन्य वर्ण के प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान शूद्र हुई। ब्राम्हण के साथ अन्य वर्ण के अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतान ब्राह्मणों की श्रेणी में आई। प्रतिलोम व अनुलोम विवाह से उत्पन्न सॅकर जातियों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। महाभारत काल में वर्ण निर्धारण के आधार के रूप में कर्म या जन्म कोई भी पूर्ण स्वीकृत प्राप्त नहीं कर पाया।

ब्राह्मण वर्ण

धर्म के संपूर्ण अंगों यथा शम, दम, तप, शौच, शांति, आजर्व, ज्ञान, विज्ञान व आस्तिस्य का धारण करने वाले ब्राह्मण कहलाते थे और विशेष परिस्थिति में क्षत्रियोंचित कार्य भी करते थे। अध्ययन, स्वाध्याय, अध्यापन, यज्ञ, दान, धर्म, तप, त्याग, का कार्य ब्राह्मणों के हैं। वेदों का अध्यापन, यजमान को यज्ञ कराना व दान लेना ये जीविका के साधन भूत हैं। सत्य, मनोनिग्रह तप और शौचाचार का पालन करना उसका सनातन धर्म है। ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान व विशेषाधिकार प्राप्त था। वे अनुशासन व दंड से परे थे। ब्राह्मण क्षत्रिय को सदैव सहयोग प्रदान करते थे। समाज को सदैव शिक्षित करने हेतु प्रयत्नशील रहते थे।

ब्राह्मणों का जीवन कठोर था, निर्धनता ब्राह्मण का सर्वस्व था, कीर्ति विष की भांति त्याग बताया गया। ब्राह्मण अपने दुर्गुणों (वेदाध्ययन के परित्याग) के कारण निंदनीय थे। कदाचारी व कुत्सित ब्राह्मण शूद्र द्वारा मारे जाते थे।

क्षत्रिय वर्ण

ब्राम्हण वर्ण के पश्चात वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय वर्ण महत्वपूर्ण है। युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक व्यवहार ज्ञान प्राप्त करना, प्रजा की रक्षा करना, विषाद ग्रस्त व पीड़ित मानवों के दुख व कष्टों से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करना क्षत्रिय के कर्म है। शक्ति और तेज क्षत्रियों के भूषण हैं। भारतीय संस्कृति में शक्ति का प्रयोग, ज्ञान, सदाचार तथा सामाजिक व्यवस्था की रक्षा के लिए किया जाता है।क्षत्रियों के सामान्य गुण दयालु, महात्मा, जितेंद्रिय, शत्रुविजयी, लज्जाशील, यशस्वी, धर्मात्मा व सदाचार परायण होना है। उनका धर्म सबकी रक्षा करना, नम्र, शील, इंद्रियों का निग्रह करना, अनुग्रह द्वारा प्रजा के साथ यथोचित बर्ताव करना, दंड नीति का सम्यक प्रयोग करना, राग द्वेष से परे रहना, लोभशून्य एवं अमर्ष होना है। महाभारत में क्षत्रिय परस्पर आपस में अध्ययन - अध्यापन का कार्य करते थे। क्षत्रियों का मूल कर्म भूमि का संरक्षण करना होता था जिसके लिए वैश्य व शूद्र से कर लिया करते थे। सदाचारी क्षत्रिय अन्य वर्णों के अतिरिक्त ब्राह्मणो द्वारा भी पूजित थे। शरणागत की रक्षा को क्षत्रिय आदर्श मानते थे।

वैश्य वर्ण

वैश्य के कर्म आर्थिक व लौकिक हैं। पशुओं का पालन, कृषि, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, सदाचार पालन, आतिथ्य सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत व त्याग वैश्यो के कार्य हैं।वैश्यो को अध्ययन, यजन तथा दान का अधिकार प्राप्त था। वैश्व वर्ण का मुख्य कार्य पशुपालन, कृषि एवं व्यापार था।वैश्य अपनी संपत्ति के अधिकार, अपनी बुद्धि एवं आत्मरक्षा के साधनों के सर्वेसर्वा होने के कारण ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के समान आदर पाते थे। ये ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के अधीन भी काम किया करते थे।

शूद्र वर्ण

तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्रों का धर्म है। सत्यवादी, जितेंद्रिय तथा आतिथ्य सत्कार करने वाला शूद्र महान तप संचय कर लेता है। वाणिज्य, कारीगर के कार्य, शिल्प तथा नाट्य अभिनय भी शूद्र के कर्म है। शूद्रों के लिए भिक्षा, तप, यजन, होम व व्रत निषिद्ध था किन्तु तीर्थ करने का अधिकार प्राप्त था। वनपर्व मे वर्ण व्यवस्था में रूढ़िवादिता के समावेश होने का संकेत मिलता है। शूद्र कहीं स्पृश्य तो कहीं अस्पृश्य से समझे गए इसमें निषाद, शिल्पी, कहार, मागध, सूत, नट, नर्तक, गायक, वैध आदि थे। शूद्र स्वतंत्र रूप से कार्य करके अपना व परिवार का भरण पोषण कर सकते थे। वन पर्व में शूद्रों के शोषण का उल्लेख नहीं है।

आश्रम व्यवस्था

मानव जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है कि सुनिश्चित समय बाध्यता के अनुसार कार्य हो, अतएव संपूर्ण जीवन काल को चार अवस्थाओ में विभक्त किया गया। बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था जिनके लिए चार आश्रम बनाए गए ब्रह्मचारी आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम। बौद्धिक विकास, सामाजिक जीवन, नैतिक शिक्षा व आध्यात्मिक साधना का समुचित आयोजन करना आश्रम व्यवस्था की उपयोगिता है। वेदोत्तर कालीन साहित्य में आश्रम व्यवस्था आई। मनुष्य की आयु 100 वर्ष की बताई गई। जिसे चार बराबर भागों में विभक्त किया गया। ब्रह्मचर्य आश्रम में अनुशासन से उच्च कोटि का चरित्र निर्माण करना होता था। गुरु की आज्ञा से ब्रम्हचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। गृहस्थ समस्त विश्व के प्रति उत्तरदाई होता था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, व सन्यासी सभी उत्तर दायित्व से मुक्त थे। इसलिए गृहस्थाश्रम आश्रमों में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। गृहस्थ आश्रम सभी धर्मों का मूल है। गृहस्थ के चार ऋण हैं - पितृ ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण एवं मनुष्य ऋण। पुत्र प्राप्ति से पितृ ऋण, यज्ञ करने से देवऋण, स्वाध्याय व तप से ऋषि ऋण तथा अतिथि सत्कार व सदव्यवहार से मनुष्य ऋण उऋण हो जाता है। वानप्रस्थ आश्रम में गृहस्थ आश्रम की सभी वस्तुओं को छोड़कर वन में स्थित रहकर फल खाकर मानसिक सामर्थ्य को बढ़ाना होता है। इसमें देहोचित सामान्य आवश्यकताओं को त्याग कर शनै: शनै: माया से दूर रहते हुए कठोरतम जीवन व्यतीत करना होता है। रोगी व वृद्ध वानप्रस्थियो के लिए अनशन कर देह त्याग करने का प्रावधान था। सन्यास आश्रम में प्रवेश व्यक्ति पूर्वानुभव व संचित विद्या के द्वारा परोपकार व समाज कल्याण मे सलग्न होता था। सन्यासियों का गुण वैराग्य व संतोष है जिसमें मनुष्य निरअहॅकारी तथा विश्वाकार हो जाता है।

महाभारत में आश्रम व्यवस्था

महाभारत में ब्राह्मणों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम अपरिहार्य बताया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए कोई आश्रम निषेध नहीं किया गया था किंतु द्र के लिए केवल गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था थी। क्षत्रियों के लिए ब्रह्मचर्य व्रत आवश्यक नहीं था। वैश्यो के लिए ब्रह्मचर्यआश्रम की जानकारी का अभाव है। वनपर्व में पांडवों का गृहस्थाश्रम भिन्न है। महाभारत से ज्ञात होता है कि जिस समाज में शिशु के प्रति उसके माता-पिता व गुरु सावधानीपूर्वक उसके शारीरिक व मानसिक विकास में अपना सहयोग पूर्ण मनोयोग से देते है वही समाज आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक उन्नत में समर्थ होता है। महाभारत मे यही उपदेश है कि समाज में चतुर्विध आश्रम आवश्यक है और सभी व्यक्ति अपने कर्तव्यों को समझ कर अपने धर्म, वर्ण एवं आश्रम के अनुसार कर्म करना चाहिए। महाभारत में कलयुग में भ्रष्ट आश्रम व्यवस्था का वर्णन करते हुए उल्लेख किया गया है कि लोभी व मोही ब्राह्मण भिक्षा याचना करेंगे, गृहस्थ कर की मार से लुटेरे बनेंगे, ब्रह्मचारी चरित्रहीन होंगे और तपस्वियो का वस्त्र धारण कर लोगों को ठगेगे, पृथ्वी में पाखंड व्याप्त होगा।

समाज

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया। कालांतर में समाज अपने सदस्यों के नैतिक तथा धार्मिक विकास का भी साधन बना। भारतीय समाज की नींव वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित थी। समाज को सुचारू पूर्वक चलाने के लिए मस्तिष्क, भुजा, उरु व पाद की आवश्यकता होती है जिससे ही चार वर्णो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का अस्तित्व हुआ। भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था मानव के गुण व कर्म के अनुसार की गई थी। अन्य समाजों में भी वर्ण व्यवस्था से साम्यता थी। प्रगतिशील समाज में व्यक्ति और समष्टि के संबंध अन्योन्याश्रित ही रहते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के सुचारूरूपेण निर्वाह से ही समाज उन्नति के अनंत पथ पर अग्रसर हो सकता है। चतुर्वर्ण समाज के अतिरिक्त महाभारत में दास, दस्यु, अनाश, मृद्धवाच, देवता, असुर, गंधर्व, किन्नर आदि के समाज का भी उल्लेख है।

परिवार

समाज की लघुतम इकाई परिवार है, जिसमें मनुष्य की पत्नी व उनकी संताने सम्मिलित थी। ऋग्वेद में पितृ प्रधान परिवारों का उल्लेख है। तत्समय एकल व बहुविवाह प्रथा थी। स्वयंबर द्वारा कन्या को अपने मनुकूल वर से विवाह करने का प्रावधान था। क्षत्रिय के अतिरिक्त पिता ही कन्या हेतु वर का चयन करता था। विवाह हेतु बाल्यावस्था उपयुक्त नहीं समझी जाती थी। सदाचार की शिक्षा के लिए स्त्रियां ही उपयुक्त पात्र थी। महाभारत काल में परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री, दादा-दादी, मामा, चाचा, भतीजा, भतीजी, भांजा, भांजी सम्मिलित कर वृहद परिवार होता था। अभ्रातका कन्या से विवाह निषिद्ध था। संतान उत्पन्न होने के पश्चात स्त्री का परित्याग अनुचित माना जाता था। मुखिया का परिवार पर नियंत्रण रहता था। कुल, मर्यादा व स्त्रीशील की रक्षा करना पुरुष का कर्तव्य था। बहुपत्नीक व बहुपति दोनों प्रकार के विवाह का उल्लेख मिलता है। अविवाहित कन्या, यज्ञ दान आदि कर सकती थी। विधवा व परित्यक्ता को भी पुनर्विवाह की अनुमति थी। महाभारत में पारिवारिक स्थिति द्विविध रूप में चित्रित है।

शासन व्यवस्था

महाभारत काल में राजतंत्र और गणतंत्र दोनों प्रकार की शासन व्यवस्था थी। ऋगवैदिक काल का ग्राम ही महाभारत काल में जनपद के रूप में मान्य हुआ। उस काल में दैव-सिद्धांत की मान्यता प्रचलित थी। राजतंत्रात्मक संविधान राजा के देवी सिद्धांत को मान्यता देता था तथा गणतंत्रात्मक संविधान सामाजिकबंध सिद्धांत को स्वीकृति देता था। राजा बनने के लिए राज्योचित गुणों का होना आवश्यक था। श्रीकृष्ण, वृषिण, भोज, अंधक, सात्वत, तथा शूरसेन का एक संघीय गणतंत्र था, जिसके श्रीकृष्ण अध्यक्ष थे। महाभारत में तीन प्रकार के राजाओं का वर्णन है जिसमें चक्रवर्ती, सम्राट तथा राजा थे। राजा का स्थान रिक्त न हो इसलिए जेष्ठ पुत्र अथवा गुणों में श्रेष्ठ पुत्र को युवराज बनाया जाता था। राज्य के सात अंग होते थे : राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, दुर्ग तथा सेना। प्रशासन को सुचारु पूर्वक चलाने के लिए राष्ट्र को विभिन्न जनपदों, जनपद को कई विशो तथा विश को कई ग्रामों में विभक्त कर दिया जाता था। ग्राम का मुखिया ग्रामपति था जो वैश्य होता था। प्रत्येक दो ग्रामों में एक विवीत, 5 या 10 ग्रामो में गोप नियुक्त होते थे। विश का मुखिया विशपति था। जनपद एक चौथांश क्षेत्र के लिए स्थानिक नियुक्त किए जाते थे। जनपद का अधिपति महापौर या समाहर्ता होता था।

शासन के अंग

महाभारत के शासन तंत्र में 18 पदों का उल्लेख है जिन्हें तीर्थ कहा जाता है। इनमें मंत्री - प्रधान सलाहकार, पुरोहित - मुख्य पुरोहित, युवराज, चमूपति - सशस्त्र सेनाओं का अध्यक्ष, द्रव्यसंचयकृत - मुख्य भंडार नागरिक, विनियोजक - मुख्य कार्यपालक, प्रदेष्टा - मुख्य न्यायाधिपति, दंडपाल - दुर्गो का अध्यक्ष, राष्ट्रांतपालक – सीमांतो का रक्षक, मुख्य अरण्यपाल, सार्वजनिक निर्माण पदाधिकारी, धर्माध्यक्ष, आयक्तक, न्याय अधीक्षक, नियुक्त, समाहर्ता - राजस्व एकत्रकर्ता, सन्निधाता – कोषाध्यक्ष, अक्षपटलाध्यक्ष, महालेखापाल। सम्राट न्याय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी था। गुप्तचर दो प्रकार के थे, संस्था - एक स्थान पर रहकर कार्य करने वाले, संचार - एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम कर कार्य करने वाले। राज्य को कई प्रांतों मे तथा प्रांत को कई जिलों में विभक्त करके प्रशासन किया जाता था।

सैन्य व्यवस्था

सेना चार प्रकार की होती थी : पद रक्षक, आश्वारोही, गजारोही एवं रथी। महाभारत में आपातकाल स्थित में सभी वर्णों को शस्त्र धारण का उपदेश दिया गया है। कुछ लोगों को 10-10 सैनिकों का तथा कुछ को 100 सैनिकों का नायक बनाया जाता था। कोई वीर योद्धा एक हजार सैनिकों का अध्यक्ष भी होता था। एक अश्वारोही के लिए तीन पदाति तथा एक रथी अथवा गजारोही के लिए पंद्रह पदाति नियुक्त होते थे। पचपन पैदलों की टुकड़ी को पत्ति, तीन पत्तियां मिलकर एक सेनामुख या गुल्म, तीन गुल्मो का एक गण होता था। पैदल सेना उन सभी स्थलों में जहां अश्व व गज नहीं जा सकते थे, जाती थी। युद्ध भूमि का निरीक्षण, चयन तथा शिविरों के लिए उपयुक्त स्थल का निर्णय करने, व्यूह रचना भंग करने तथा खजाने को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का कार्य अश्वारोही सेना का था। गजारोही सेना को नव निर्माण, पथ मरम्मत, दुर्गम स्थानों को पार करना, आगजनी, अग्निशमन, दुर्ग तोड़ना, आपातकालीन सुरक्षा प्रदान करना मुख्य कार्य थे। सैन्य बलों को संयोजित करना, आक्रमण प्रत्याक्रमण करना, बंदी बनाना, आग लगाना, आतंक फैलाना एवं व्यूह रचना आदि रथी के कार्य थे।

शस्त्र तथा अस्त्र

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है जिसमें शस्त्रों का गूढ विवेचन है जिसके अनुसार आयुध दो प्रकार के होते हैं शस्त्र तथा अस्त्र। शस्त्र के चार भेद होते हैं। मुक्त आयुध - हाथ से चला कर छोड़े जाने वाला आयुध जैसे शिला, तोमर आदि। अमुक्त आयुध - जिन्हे हाथ में लेकर प्रहार किया जाए जैसे तलवार, गदा, मुद्गल, फरसा, भाला, आदि। मुक्तामुक्त आयुध - ऐसे आयुध जो चलाने के समय हाथ से अलग हो जाएं किंतु पीछे से पकड़ लिया जाए जैसे प्रास आदि। मंत्रमुक्त आयुध - ऐसे आयुध जिन्हे मंत्र पढ़कर किसी यंत्र द्वारा चलाया जाए किंतु उसके उपसंहार की विधि ज्ञात न हो। वाण भी कई प्रकार के होने का उल्लेख है जिसमें नाराज, ब्रहन्नालीक, क्षुरप्र, विशिख, भल्ल, वत्सदंत, शब्दभेदी बाण, सर्पाकार वाण, उर्ध्वगामी वाण, गृध्दपंखवाण, नालीक, शक्ति आदि है। श्री कृष्ण का चक्र आग्नेयास्त्र का रूप है जो शक्ति की भांति लक्ष्य भेदन कर पुनः वापस आ जाता था। अस्त्र मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित होते थे जैसे पाशुपतास्त्र, वरूणास्त्र, दंडकास्त्र, अंतर्धानास्त्र, महेंद्रास्त्र, विशोषणास्त्र, शैलास्त्र, वज्रास्त्र, अग्नेयास्त्र, ब्रह्मास्त्र, प्रशास्त्र, दैत्यास्त्र, व अमोघशक्ति। अस्त्रों के अतिरिक्त श्री कृष्ण का शाङग नामक धनुष, अर्जुन का गांडीव एवं अक्षय तूणीर जैसे आयुधो का ज्ञान भी महाभारत में है।

न्याय प्रणाली

मानव जीवन में न्याय का अत्यधिक महत्व है। न्यायाधीशों को धार्मिक कहा जाता था। कौटिल्य के अनुसार न्यायपालिका कार्यपालिका से पृथक नहीं है। न्यायालय दो प्रकार के होते थे - धर्मस्थनीय एवं कंटकशोधन जिनमें क्रमश: दीवानी तथा फौजदारी मुकदमों की सुनवाई होती थी। धर्मस्थनीय में तीन न्यायाधीश रहते थे। धर्मस्थनीय न्यायालय में पदाधिकारी की शिकायत, ऋणदार का धन वापस न करने, अनुवांशिक धन बंटवारे, बलपूर्वक अधिकार, धोखाधड़ी, संघर्ष, विवाह एवं राजआज्ञा का अतिक्रमण आदि के संबंध में वाद किया जा सकता था। किसी भी विवाद के चार अंग होते हैं – धर्म, व्यवहार, रीति व राजशासन। धर्म सत्य पर आधारित होता है, व्यवहार साक्षी पर, रीति साधारण मनुष्यों के दृष्टिकोण पर, जबकि राजाज्ञा राजशासन पर। कंटकशोध न्यायालय मे भी तीन न्यायाधीश नियुक्त होते थे। इसमें व्यवसाय में हेराफेरी तथा मृत्यु के उत्तरदायित्व का निर्धारण इस न्यायालय में होता था, शासन के सभी विभागों, विभागाध्यक्षों में रिश्वतखोरी, व्यभिचार, पद का अनुचित लाभ, निर्धनों को प्रताड़ित करना, धनवानो का पक्ष लेना आदि पर कड़ी दृष्टि रखने का कार्य इस न्यायालय का होता था। न्यायाधीशों पर समाहर्ता न्यायालय में मुकदमा चलाया जाता था।

राजा-प्रजा संबंध

न्याय पूर्वक प्रजा पालन राजा का कर्तव्य है। एक अनुशासित राजा ही प्रजा को अनुशासित कर सकता है। युगो का प्रवर्तक राजा होता है। राजा द्वारा प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप ग्रहण करके धन संग्रह करने का उल्लेख है। महाभारत मे उल्लेख है कि जब राजा दंड नीति का सम्यक प्रयोग करें तो सतयुग आ जाता है और जब एक चौथाई अंश का त्याग करता है तो त्रेता युग, आधे भाग का प्रयोग करता है तो द्वापर तथा समूची दंडनीति का परित्याग करता है तो कलयुग का पदार्पण होता है। इसमें दुराचार बढ़ते हैं और प्रजा क्रूर हो जाती है। राजा के सहायक मंत्री, सेनापति, न्यायाधीश, अमात्य, गुप्तचर आदि होते हैं। राजा के सहायक गुणवान एवं कुलीन होने चाहिए। राजा-प्रजा का संबंध आश्रय एवम् आश्रयी का है जो दोनों एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। एक के नष्ट होने पर दूसरे का विनाश होता है। राजा को स्वविहार की अनुमति थी जिसमें वह अपने व्यक्तित्व के अनुसार समय व्यतीत करने के लिए स्वतंत्र था। तत्समय राजा के आमोद प्रमोद के लिए संगीत एक महत्वपूर्ण साधन था तथा नट, नर्तको तथा इंद्रजाल प्रदर्शन भी सम्मिलित था। वन विहार भी एक साधन था। द्यूत क्रीड़ा का प्रचलन अत्यधिक पाया जाता था। इसके अतिरिक्त अश्वो की दौड़, शौर्य प्रदर्शन, पशुओं के खेल भी थे।

आर्थिक व्यवस्था

अर्थोपार्जन के लिए वार्ता का उल्लेख है। वार्ता के अंतर्गत पशुपालन, कृषि एवं वाणिज्य का वर्णन है। प्राचीन काल में आर्थिक व्यवस्था में भूमि, श्रमिक, धन तथा श्रेष्ठियो के समुदाय सम्मिलित थे। भूमि चार प्रकार की थी – खेतिहर, बंजर, पशु चरने की भूमि तथा बाग। पशुपालन भूमि का सहायक व्यवसाय था। कुशल व्यवसायो में कुम्हार, लोहार, बढई, नाई, धोबी मुख्य थे। अन्य मे सूचीकार, सीसकार, गुपकार, ठुकार, दंतकार, जौहरी, शिल्पकार, यंत्रकार, रथकार, तैलिक, स्थपति, लेपक, कूपखनक, कुट्टिक वाहक आदि थे। श्रमिक की श्रेणी में रसोइए, हलवाई, घरेलू नौकर, दास कर्मकार, द्वारपाल, छत्रधर, भारवाहक, कहार, सूदांतेवासी, माली, कनहार, मल्लाह, भाटक आदि थे। विद्या व साहित्य में अभिनेता, अभिनेत्री, नट-नर्तक, लंघक, इंद्रजालिक, गणिकाये, लेखक, चिकित्सक, चित्रकार, सुदेशिक, शाकटिक, आदि थे। जंगली व्यवसाय के अंतर्गत शिकारी, सपेरे, वल्कल वणिज, वेण, शवदाहक, भागविक, बालिशक, मछुआरे, शाकुनिक, शौकरिक, निषाद, बहेलिया आदि थे। जंगली निम्न व्यवसायो में रजक, रंगकार, नाई, धोबी, चर्मकार, स्वर्ण धावक, रज्जूकार, कोच्छकार, धनुकार, इषुकार, जुलाहा, घसियारा, तृणहारक, बाण बनाने वाला तथा मद्य विक्रेता थे। प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन में ऋण तथा महाजनी का अस्तित्व भी प्राप्त होता है।

राजकीय धन

कोष को ही राजकीय धन की संज्ञा है। महाभारत के अनुसार राजा को उचित रीति से क्रमश: कर वसूल करना चाहिए। कर ही राजकीय धन का मूल स्रोत था। ब्राह्मण की जीविका का दायित्व राजा का था। ब्राह्मण के लिए धन का सर्वाधिक व्यय उत्तम साधन था। राजा अपने कोष के धन को भविष्य निर्माण हेतु यथा अन्न, पशु, व सोने की वृद्धि के लिए निवेशित करता था। अरण्य की वस्तुओं के लिए कर आरोपित करने की मनाही थी। कोष का सर्वाधिक भाग मंत्रियों, सेना एवं अन्य पदाधिकारियों पर व्यय होता था। महाभारत मे राजकीय धन को प्रजा के हित में लगाना सर्वोपरि माना गया है। राजा द्वारा धन का सामाजिक उपयोग, समाज के विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों को संतुष्ट करने के लिए, व्यापार वृद्धि के लिए, आर्थिक विकास के लिए तथा सैनिकों एवं अन्य पदाधिकारियों को संतुष्ट करने के लिए किया जाता था।

शिक्षा व्यवस्था

भारतीय मनीषियों के अनुसार विद्या ज्ञापन से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। विद्या से विनय, विनय से पात्रता, पात्रता से धन, धन से धर्म एवं सुख की प्राप्ति होती है। चार वेद - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा उनके षडांग – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष एवं अन्य चार शास्त्र – पुराण, मीमांसा, स्मृति, आन्वीक्षिकी मिलकर चतुर्दश विद्या के अंतर्गत माना गया है। वेद से आर्यों के समस्त शास्त्रों का उद्भव हुआ है। शिक्षा का अर्थ वेद की ऋचाओ का शुद्ध पाठ करने का ज्ञान है। शिक्षा के छह अंग हैं : वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम एवम संतान। वर्ण से अभिप्राय वर्णमाला है। संस्कृत में 63/64 वर्णों की संख्या है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं – उदात्त, अनुदात्त, एवम स्वरित। मात्रा तीन प्रकार की होती है – हस्व, दीर्घ, प्लुत्। बल का तात्पर्य स्थान और प्रयत्न से है। अक्षरों के उच्चारण में जो प्रयास होता है वही प्रयत्न है। यह दो प्रकार का होता है आभ्यंतर एवम बाह्य। आभ्यंतर चार प्रकार के हैं – स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत, एवम संवृत्त्। बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते हैं। विवार, संवार, श्वांस, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, एवं स्वरित। साम का अर्थ है दोषरहित तथा

माधुर्य गुण से युक्त उच्चारण से है। संतान या संधि का अर्थ है - पदों का स्वतंत्र अस्तित्व रहने पर कभी-कभी आवश्यकतानुसार शीघ्रता से एक के अननंतर दूसरे पद का उच्चारण होता है। इसे ही संहिता कहते हैं। इस प्रकार शिक्षा के इन छः विभेदो को भलीभांति समझ कर इसके समुचित निर्वाह से ही वेदपाठ शुद्ध होता है। वैदिक मंत्रों के उच्चारण विधि का ग्रंथ शिक्षाशास्त्र है। शिक्षाये प्राचीन ऋषियो के नाम से संबंधित हैं। उनकी 32 शाखाओं का समुच्चय है। प्रकाशित ग्रंथ है – व्यास, भरद्वाज, पाणिनीय, याज्ञवल्क्य, वासिष्ठी, कात्यायनी, पाराशरी, माण्ड्व्य, अमोघानन्दिनी, माध्यांदिनी, वर्णरत्न-प्रदीपिका, केशवी, मल्लशर्म, स्वराग्कश, पोडश-शलोकी, अवसान-निर्णय, स्वरभक्ति-लक्षण, प्रातिशाख्य-प्रदीप, नारदीय, गौतमी, माण्डूकी, क्रम-संधान, गलदृक, लोमशी, मन-स्वार शिक्षा, अन्य हस्तलिखित हैं।

शिक्षक एवं विद्यार्थी

किसी कर्म के संपादन हेतु साध्य, साधन और साधक आवश्यक है। फल प्राप्ति हेतु वेदों के शुद्ध मंत्रों का उच्चारण आवश्यक है जिसके लिए शिक्षा साध्य है, शिक्षक साधन है तथा साधक विद्यार्थी है। शिक्षक तीन प्रकार के होते थे – आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु। विद्यार्थी भी तीन प्रकार के होते थे – बुद्धिमान, आहार्यबुद्धि, दुर्बुध्दि। यज्ञोपवीत संस्कार के बाद बालक को गुरु के पास भेज दिया जाता था। प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग आयु में यज्ञोपवीत संस्कार का उल्लेख है तथा अलग-अलग वर्ण के लिए अलग-अलग ढंग से शिक्षा की व्यवस्था थी। ब्राह्मण बालक को चारों वेद षष्टांग सहित उनके रहस्यों को जानना होता था। क्षत्रिय बालक की शिक्षा सैनिक ढंग से होती थी। राजकुमारों को 18 विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वैश्य बालकों को 8 प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार तीनों वर्गों के लिए अध्ययन की पाठ्यक्रम निर्धारित था। शिक्षक को बिना पक्षपात के पुत्रवत स्नेह देते हुए शिष्यों को सद्गुणों, कर्तव्याकर्तव्य, आचरण, निद्रा, रोग, भोजन एवं संगति संबंधी अनुदेश देना उनका कर्तव्य था। शिक्षार्थियों के कर्तव्य - आदरभाव रखना, आज्ञा पालन करना, भिक्षा मांगना गुरू की आवश्यकतानुसार वस्तुओं की व्यवस्था करना, गुरू के सोने के बाद सोना, उनके जगने के पूर्व उठ जाना तथा शिक्षा समाप्ति पर गुरु दक्षिणा देना था। प्रत्येक राजवंश में एक गुरु होते थे जो राजकुमारों को शिक्षा देते थे। अध्यापन कार्य के अतिरिक्त गुरु राजा को सम्यक विवेक का मार्ग बताते थे। राजगुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद राजकुमार अन्य श्रेष्ठ गुरुओं के अधीन शिक्षा प्राप्त करते थे, जिससे अतुलनीय व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। महाभारत में राजगुरु कृपाचार्य से शिक्षा प्राप्त करने के बाद राजकुमारो ने द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त की थी।

काव्य कला

भारतीय विद्वानों के अनुसार रसयुक्त वाक्य तथा रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द काव्य है। काव्य के दो भेद, गद्य एवं पद्य तथा पांच रूप होते हैं – विज्ञान, दर्शन, शास्त्र, इतिहास व काव्य। ज्ञान प्राप्ति के छः साधन – काव्य, शास्त्र व इतिहास तथा इनके मिश्रण से काव्यशास्त्र, काव्येतिहास, शास्त्र्येतिहास हैं। महाभारत को इतिहास की संज्ञा दी गई है किंतु यह काव्य भी है। छंदबद्ध रचना पद्य है तथा छंदहीन रचना गद्य है। काव्य तीन प्रकार के होते हैं – प्रबंध, निबंध (अनिबद्ध) व निर्बंद्ध (मुक्त काव्य)। प्रबंध काव्य दो प्रकार का होता है – महाप्रबंध व खंडकाव्य्। महाप्रबंध के चार रूप होते हैं – पुराण, आख्यान, चरित काव्य, महाकाव्य्। महाकाव्य के सात आवश्यक अंग होते हैं - कथावस्तु व उसका संगठन, नायक, रस, छंद, वर्णन, नाम तथा उद्देश्य। महाभारत एक महाकाव्य है क्योंकि इसमें सातों अंग हैं। महाभारत मे कथावस्तु एक ऐतिहासिक कथा है जिसमें निबद्ध अठारह सर्ग हैं। इसमें नायक युधिष्ठिर हैं। महाभारत में तीनों रसो श्रंगार, वीर और शांति उपस्थित है। महाभारत में मुख्यतः अनुष्टुप छंद का प्रयोग हुआ है। महाभारत में जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के विभिन्न रूपों और विविध भावों का वर्णन है। महाभारत में विभिन्न पर्वों के नामकरण का आधार कथा तत्व है। महाभारत का उद्देश चतुरवर्ग यथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि महाभारत एक महाकाव्य ही नहीं वरन एक महा प्रबंध है। महाभारत में पद्यात्मक शैली के साथ-साथ गद्यात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। भाषा सुगम व सुबोध है, कहीं भी शैथिल्यता का समावेश नहीं हुआ है।

संगीत कला

संगीत शास्त्र सामवेद का एक उपवेद है। ऋग्वेद के ऋचाओ का एक विशिष्ट पद्धति से गायन साम कहलाता है। भारतीय संगीत शास्त्र का मूल इन्हीं साम गायनों पर आधारित है। साम गायन 5 भाग में होता है – प्रस्ताव, उदगीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन। साम के स्वर मंडल में सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूछ्र्ना तथा उनचास तान है। साम गायन पद्धति चार प्रकार की होती है – वेय गान, आरण्यक गान, ऊहगान, उह्ययगान। संगीत शास्त्र के पांच प्रमुख तत्व हैं – नाद, श्रुति, ग्राम, मूर्छना एवं राग। नाद दो प्रकार के होते हैं – आहत एवम अनाहत। लोक व्यवहार में तीन प्रकार के नाद होते हैं मंद्र, मध्य,व तार। तीनों नादो में से

प्रत्येक नाद के बाइस भेद होते हैं, यही भेद श्रुति कहलाते हैं। श्रुतियो की पांच जातियां होती हैं – दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु एवं मध्या। राग की दृष्टि से स्वर चार प्रकार के हैं – समवादी, वादी, अनुवादी एवं विवादी। श्रुतियो पर सात स्वर स्थापित किए गए हैं। वस्तुत: बाइस श्रुतियो के बाइस स्वर होते हैं। स्वर समूह को ग्राम कहते हैं जो तीन होते हैं – षड्ज, मध्यम व गांधार ग्राम। सात स्वरों के आरोह एवं अवरोह को मूर्छना कहते हैं। स्वरों का संबंध मूर्छना से है। इस प्रकार सात स्वर होने के कारण सात मूर्छना हुई। ग्राम तीन है। इस प्रकार 21 मूर्छना होती है। स्वरोच्चारण को वर्ण कहते हैं जो चार प्रकार के होते हैं – स्थाई, आरोही, अवरोही व संचारी। विशेष स्वर वर्ण से विभूषित राग कहलाता है जिसके दो भेद होते हैं - पुरुष राग व स्त्री राग (रागिनी)। आजकल छै राग सुप्रसिद्ध हैं – भैरव, श्री, मालकोष, दीपक, मेघ व हिण्डोल्। महाभारत में सामवेद के एक उपवेद को गांधर्व वेद कहा गया है। गंधर्व बाद्य बजाने तथा गायन में पारंगत माने जाते थे। गंधर्व से अर्जुन ने शिक्षा ली थी। सूत एवं मागध स्तुतिगान करके राजा व राजकुमारों को जगाते थे। । देव एवं गंधर्वो के संगीत में आनंद है जबकि असुरों के वाद्यो में भयानकता है। महाभारत के अनुसार नृत्य एवं गायन मनुपुत्रों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

वास्तु कला

महाभारत के शांति पर्व में राजा के निवास योग्य नगर एवम दुर्ग का वर्णन है। इसमें भीष्म युधिष्ठिर को बताते हैं कि प्रचुर संपत्ति युक्त विस्तृत स्थान में छह प्रकार के दुर्गों का आश्रय लेकर एक राजा को नगर बसाना चाहिए। ये दुर्ग हैं - धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, जलदुर्ग तथा वनदुर्ग है। जिस नगर में इनमें से एक दुर्ग हो, जहां आवश्यक वस्तुओं, अन्न, अस्त्र शस्त्रों, हाथी, घोड़े, रथो की अधिकता हो, जहां मजबूत चहारदीवारी, गहरी खाई, विद्वान, कारीगर, धार्मिक व कार्यकुशल मनुष्य, सुप्रसिद्ध न्यायालय, अच्छा प्रकाश प्रबंध, वेद मंत्र, संगीत वाद्यों की ध्वनि, देव पूजन व सामाजिक उत्सव होते हो, वहां मंत्रियों एवं सेना के साथ राजा को निवास करना चाहिए।

धर्म तत्व

भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र धर्म है। धर्म तत्व मानव को उत्कृष्ट बनाता है और पशुओं से भेद करता है। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। इसलिए पुरुषार्थो में धर्म सबसे महत्वपूर्ण है। धर्म मनुष्य की आत्म चेतना से सम्बद्ध है। त्रिविध ताप (आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) से आत्यंतिक निवृत्ति मोक्ष है। धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मनिष्ठ धर्म के शास्त्रों में 30 लक्षण कहे गए हैं, जबकि श्रीमद्भागवत पुराण में 39 लक्षण बताए गए हैं। प्रमुख 10 लक्षण माने गए हैं – सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), शौच(भीतर बाहर की पवित्रता), इंद्रियनिग्रह, सत्कर्म से बुद्धि बढ़ाना, अक्रोध, धैर्य, क्षमा व संयम। चतुरवर्णो के लिए अलग-अलग धर्म विहित हैं। ब्राह्मण धर्म के लिए – शम, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया भगवतपरायणता तथा सत्य है। क्षत्रिय धर्म के लिए – उत्साह, वीरता, धीरता, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा अनुग्रह, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति, प्रजा की रक्षा, लक्षण है। वैश्य धर्म के लिए – देवता, गुरु व भगवान के प्रति भक्ति, तीनों पुरुषार्थो की रक्षा, आस्तिकता, उद्योग शीलता एवं व्यवहार निपुर्णता लक्षण हैं। शूद्र धर्म के लिए विनम्रता का व्यवहार, पवित्रता, निष्कपट सेवा, यज्ञ, सत्य, अस्तेय, गोरक्षा लक्षण हैं। चतुराश्रम व्यवस्था में भी अलग-अलग धर्म है। आंतरिक आचार जिससे मानव व समाज का उत्थान होता है धर्म है। धर्म पालन के लिए ज्ञानी होना आवश्यक नहीं है बल्कि विवेक एक आवश्यक तत्व है। परधर्म की अपेक्षा स्वधर्म अति उत्तम है। धर्म दो प्रकार का माना गया है - प्रवृत्ति लक्षण या प्रवत्तिमार्ग एवम निवृत्तलक्षण या निवृत्ति मार्ग। धर्म के सामाजिक व वैयक्तिक आचार के पारस्परिक संयोजन जिसमें विधि-निषेध, कर्माकर्म, धर्माधर्म, पुण्य-पाप, की व्याख्याओं की कसौटी करते हुए लोक मंगल की कामना हेतु विधान हुए इस कारण धर्म के विविध रूप हुए। महाभारत में मानवीय एवं सामाजिक धर्म की प्रधानता है। ऐसा धर्म जो मानव को पशु से पृथक करता है वह माननीय धर्म है। संपूर्ण जगत का समयक् दर्शन कर उसके अनुकूल व्यवहार करना ही सामाजिक धर्म है। माननीय धर्म के अंतर्गत परोपकार, दान, तप, सत्यवादिता, इंद्रियनिग्रह आदि अनेकों गुण हैं। दिव्य धर्म के अंतर्गत ईश्वर, अवतार, अन्य देवता, तीर्थ, व्रत, आदि आचार आते हैं। महाभारत में वैष्णव धर्म (विष्णु और उनके दस अवतार) तथा शैव धर्म (रूद्र एवं उनके 11 अवतार) तथा ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, यम, वरुण, अग्नि तथा अश्विनी कुमारों का वर्णन है। मुख्य धर्म निम्न है।

1. प्राग्वैदिक धर्म - प्राग्वैदिक काल में मातृदेवी, वृक्ष, पशु, पक्षी की उपासना होती थी। इस युग में पाशुपत एवं शैव धर्म थे।
2. वैदिक धर्म - वैदिक धर्म दो प्रकार का होता है कर्मकांड तथा ज्ञान कांड। वेदों में बहुदेवतावादी यज्ञ कर्म की प्रधानता है। विभिन्न देवताओं को उद्दिष्ट हविष्य अग्नि में प्रदान की जाती है। अग्नि एक संवाहक के रूप में इहलोक से परलोक देवताओं का भाग ले जाते हैं। यज्ञ द्वारा प्रदान भाग से देवता बलिष्ठ होते हैं। वैदिक कर्म तीन प्रकार के हैं होने का उल्लेख है -

पार्कयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ। पाक यज्ञ में औपासन, होम, वैश्वदेव, पार्वण, आष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवणा तथा शूलगव होते हैं। हविर्यज्ञ के अंतर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास, निरूढ-पशुबंध, सौत्रामणि, पिंडपितृयज्ञादिक, दर्वीहोम आते हैं। सोमयज्ञ के अंतर्गत अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, बाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम आते हैं। वैदिक यज्ञो के अतिरिक्त अश्वमेघयज्ञ, नरमेघयज्ञ, गोमेधयज्ञ, राजसूययज्ञ, पुंडरीकाक्षयज्ञ, वैष्णवयज्ञ आदि ऋगवैदिक काल से प्रचलित थे। वैदिक देवताओं में इंद्र, वरुण, मित्र, अग्नि, आदिति, सविता, पूषण, विष्णु एवं रुद्र प्रतिष्ठित थे। ऋग्वेद में 33 देवताओं की स्तुति की गई है। वैदिक काल में यज्ञ का धर्म प्रचलित था। यज्ञ के अंतर्गत ब्रम्हयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वध्याययज्ञ, दानयज्ञ, एवं ज्ञानयज्ञ माने जाते थे।

3. जैन धर्म - जैन परंपरा के अनुसार धर्म सृष्टि की भांति अनादि है। इसमे त्रिरत्न हैं सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यक आचरण। इसमें पांच व्रत पालन का विधान है : सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। जैनधर्म जाति प्रथा का विरोधी नहीं है, किंतु कर्म निर्णयात्मक तत्व है। इसमें आचार आचरण एवं सदाचार प्रधान तत्व है।
4. बौद्ध धर्म - बौद्ध धर्म जैन धर्म के साथ विकसित हुआ। दोनों में समानता है। दोनों वेद की प्रमाणिकता तथा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते रहे। बौद्ध धर्म में शीलाचार एवं शुद्धाचरण वास्तविक तत्व है। बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य हैं तथा आठ आचरण का विधान है : दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्मान्त, आजीवन व्यायाम, स्मृति, समाधि सम्यक होने चाहिए। वैदिक धर्म के जन्मांतर बाद एवं कर्मफल वाद ज्यों के त्यों बौद्ध धर्म स्वीकार करता है।
5. पौराणिक धर्म - पुराण की कथाओं के माध्यम से नव्य धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ। नए् देवताओं के चरित्र में वासुदेव, संकर्षण एवं शिव प्रधान उपास्य हुए और यज्ञ, मूर्ति पूजा, उपासना, भजन-कीर्तन आदि क्रिया शुरू हुई। भागवत धर्म में वासुदेव कृष्ण, निष्णात राजनीतिज्ञ, कर्मठ कर्मयोगी, तत्वज्ञानी व योगीराज है। मूर्तिपूजा का विस्तार हुआ। मंदिरों के निर्माण से उपासना की नई पद्धति प्रचलित हुई। प्राग्वैदिक काल में पाशुपत या शैवमत संप्रदाय की प्रमाणिकता मिलती है। इनका वैदिक काल में भी स्थान था। पुराणों में शैव संप्रदाय के अनेक भेद वर्णित हैं जिनमें शैव, पाशुपत, काल, मुक्त एवं कपाली मुख्य हैं। इनके प्रसिद्ध समुदाय वीरशैव, लिंगायत व लकुशील हैं। अंत में शैव के नाथ संप्रदाय का उद्भव हुआ। नाथ संप्रदाय में योग एवं निवृत्ति को अपनाया गया है।
6. बारकरी एवं मानभाव संप्रदाय - मानभाव संप्रदाय के उपास्य देवता श्री कृष्ण एवं दत्तात्रेय हैं। बारकरी संप्रदाय के उपवास विट्ठल हैं।
7. सिक्ख धर्म - सिक्ख संप्रदाय में हिंदू मुस्लिम मतों की का सम्मिश्रण है। इसके प्रवर्तक गुरु नानक हैं जिन पर कबीर का गहरा प्रभाव पड़ा। इस धर्म में केवल आचरण पर महत्ता दी गई है।

भारतीय दर्शन

संपूर्ण विश्व तथा मानव जीवन की व्याख्या एवं उसके मूल्य निर्धारित करने का प्रयास ही दर्शन है। आत्मा के गहन अंवेषण संबंधी आध्यात्मिक ज्ञान यथा परमश्रेय की खोज, दर्शन कहलाया। जीवन से सम्बंद्ध आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक पदार्थों की मीमांसा करना दर्शन का उद्देश्य है। जो लोग आत्मा अनुसंधान की ओर प्रवृत्त हुए उनमें से अलौकिक प्रतिभा संपन्न जन ही ऋषि कहलाए। ऋषि एक उपाधि थी जो किसी भी लिंग, जाति, वय, स्त्री शूद्र, देव, असुर, वृद्ध, बालक की हो सकती थी। ऋषियो के दो समुदाय थे - प्रवृत्तिधर्मानुयायी, निवृत्तिधर्मानुयायी। निवृत्तिधर्मानुयायियो के दो संप्रदाय हुए- आर्ष व अनार्ष। इसप्रकार भारतीय दर्शन के दो प्रमुख संप्रदाय हैं - नास्तिक एवं आस्तिक। चर्वाक, जैन एवं बौद्ध नास्तिक दर्शन है। न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं वेदांत आस्तिक दर्शन है। दर्शनशास्त्र का अभ्युदय श्रुति काल में हो चुका था। वैदिक कालीन तर्कमूलक तत्वज्ञान से षड्दर्शनों का निर्माण हुआ तथा प्रज्ञामूलक तत्वज्ञान के आधार पर उपनिषद ग्रंथों का निर्माण हुआ। भारतीय दर्शन नौ प्रकार के हैं। इनमें से कौन पहले अविर्भूत हुआ यह स्पष्ट नहीं है।

1. पूर्व मीमांसा - भारतीय दर्शन में यह अति प्राचीन दर्शन माना जा सकता है। यह वृहत दर्शन है। इसमें 2644 सूत्र है। इसका प्रसार मिथिला व आंध्रप्रदेश तक रहा। प्रारंभ में मीमांसा दर्शन एक था किंतु बाद में कुमारिल भट्ट का संप्रदाय पूर्वमीमांसा एवं शंकराचार्य का संप्रदाय उत्तर मीमांसा या वेदांत कहलाया। जैमिनी द्वारा लिखित मीमांसा दर्शन में 12 अध्याय हैं : धर्म-जिज्ञासा, यज्ञ-यंज्ञादि, शेषशोषभाव, यज्ञकर्म (दो अध्याय), अधिकाराध्याय, अपूर्व सिद्धांत (तीन अध्याय), यज्ञ अनुष्ठान विधि, कर्म-फल, अशुद्ध उपकरणों के दोष।
2. वेदांत या उत्तर मीमांसा - वेदांत सूत्र उत्तर मीमांसा का प्रथम ग्रंथ है जिसके रचनाकार वेदव्यास हैं। आचार्य शंकर एवं रामानुज संप्रदाय वेदांत का समर्थन करते हैं। वेदांत में जीव के तीन प्रकार – शरीर, कारण, सूक्ष्म व स्थूल एवं तीन अवस्थाएं - सुषुप्त, स्वप्न, जागृत एवं त्रिगुण – सत, रज, तम माने गए हैं।

3. योग दर्शन -उद्योग, वैराग्य व प्राणिधान का मिश्रण योग है। पंचक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश) से मुक्ति के उपायो को योग दर्शन में बताया गया है। योग दर्शन के आदि प्रवर्तक पतंजलि मुनि है। योग दर्शन में 195 सूत्र हैं। इसमें अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) से पंचक्लेशो का निरोध कर मोक्ष प्राप्ति होती है। यम पांच हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। वर्तमान में 51 प्रकार के योग प्रचलित हैं
4. सांख्य दर्शन - इसके रचयिता कपिल मुनि है। साख्य दर्शन के अनुसार अचेतन प्रकृति एवं चित्त पुरुष के सन्योग से जगत की सृष्टि होती है। संख्या का मूल अर्थ विवेक या विवेकात्मज्ञान है।
5. वैशेषिक दर्शन - महर्षि कणाद इसके आदि प्रवर्तक हैं। इनका वास्तविक नाम उलूक था। इस दर्शन में जगत की रचना परमाणु से मानी गई है। वैशेषिक मे छः पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। द्रव्य से पंचभूत, सूक्ष्म तत्व व चौबीस गुण होते हैं। कर्म के पांच विभाग - उत्पेक्षण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण तथा गमन हैं। यह दर्शन द्रव्यो उसके गुण तथा कर्मों के उपयोग का विवेचन करता है।
6. न्याय दर्शन - इसके प्रवर्तक महर्षि गौतम है। न्याय दर्शन के अध्ययन से युक्तियुक्त विचार एवं आलोचना करने की शक्ति में वृद्धि होती है। इसे न्यायविद्या, तर्कशास्त्र आंवीक्षिकी कहा जाता है। प्रमाणो के द्वारा किसी विषय का परीक्षण न्याय है। प्रमाण के द्वारा ज्ञातव्य बिषय बारह हैं आत्मा, शरीर, पंचज्ञानेंद्रिय, इंद्रियों के विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख एवं अपवर्ग। तर्क उस युक्ति को कहते हैं जिसमें किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिए उसके विपरीत कल्पना में दोष दिखाया जाए। इसमें जगत संबंधी सभी तथ्यों को तर्कपूर्ण सत्यता प्रमाणित की गई है।
7. बौद्ध दर्शन - इसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध हैं। गौतम बुद्ध ने अपने धर्म की बातें साधारण जन के बोलचाल की भाषा पाली में कही है। उनके द्वारा बताया गया है कि यह संसार दुखमय है। दुख का निवारण अष्टांगिक आचरणो (सम्यक दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्मांत, आजीवन व्यायाम, स्मृति, समाधि) के व्यवहार से प्राप्त हो सकता है। निर्वाण के लिए मनुष्य को निष्काम कर्म करने का उपदेश है। आत्मा-जगत संबंधी चार विचार (प्रतीत्य समुत्पाद, कर्म, क्षणिकवाद, अनात्मवाद) का उपदेश दिया गया है।
8. जैन दर्शन - इसके प्रवर्तक वर्धमान महावीर हैं। ये जैन मत के 24 वें तीर्थंकर थे। तीर्थंकरों को जिन कहा जाता है। जिन का अर्थ है जिन्होंने राग-द्वेष जीतकर निर्वाण प्राप्त कर लिया हो। जैन दर्शन साहित्य प्राकृत भाषा में है। जैन दर्शन की दृष्टि से सृष्टि वस्तुवादी एवं बहुसत्तावादी है तथा जीव एवं अजीव से निर्मित है। इसमें अहिंसा सिद्धांत पर विशेष बल दिया गया है। इसमें समस्त द्रव्यों को अस्तिकाय एवं अनस्तिकाय में विभक्त किया गया जिसमें काल ही केवल अनस्तिकाय है शेष सभी अस्तिकाय हैं। इसके अनुसार मोक्ष को सम्यक दर्शन, ज्ञान व चरित्र से प्राप्त किया जा सकता है। समयक् चरित्र से में सात कर्म है - पंचमहाव्रत पालन, चलने, बोलने, भिक्षा, पूरीष, मूत्र त्याग में सतर्कता, मन, वचन, कर्म का संयम, दस धर्म का आचरण, कष्ट सहना तथा यथार्थ तत्वों की भावना रखना है।
9. चार्वाक दर्शन - यह अत्यंत साधारण जनों का दर्शन है। इसे जडवादी या लोकायत भी कहते हैं। चार्वाक नामक ऋषि जडवाद के प्रवर्तक कहे गए हैं। आदि प्रवर्तक बृहस्पति थे। यह चार महाभूत को मानते हैं। आकाश को नहीं मानते है। ईश्वर की सत्ता को ये नहीं मानते हैं। जड़तत्वों के सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति मानते हैं। इनके अनुसार दुखों का अंत असंभव है। अधिक से अधिक सुख प्राप्ति को उद्यम करने के कारण इसे सुखवाद कहा जा सकता है। यह संसयवादी एवं आज्ञेयवादी हैं। भविष्य की आशा के लिए ये वर्तमान को नहीं छोड़ते हैं।

नैतिकता

एक ही क्रिया देश एवं काल के भेद से धर्म या अधर्म हो जाती है। यदि एक मानव क्षुधा से पीड़ित होते हुए भोजन की चोरी करे तो उसकी अपेक्षा दूसरी ओर बिना क्षुधा से पीड़ित होते हुए यदि कोई चोरी करे तो वह निंदनीय होगा। शुभ या अशुभ परिणाम सीधे शुभ है या अशुभ कार्य पर आश्रित नहीं होते हैं। युद्ध में वही कार्य शुभ है जो शांति काल में अशुभ। नैतिकता का आधार धर्म है। नैतिक संहिता किसी समाज के सामाजिक एवं बौद्धिक स्तर के अनुसार तर्क के आधार पर निर्मित होता है। मानव की व्यक्तिक भावना ही समाज की रूपरेखा व उसकी दिशा निर्धारित करती है। नैतिकता धर्म से अलग नहीं है। महाभारत एक धर्म शास्त्र, नीति शास्त्र व मोक्ष शास्त्र है। इसमें पारिवारिक स्नेह, वृद्धजनों का आदर, स्वामिभक्ति, वीरता, आदि नैतिक कार्यों का वर्णन है। माता पिता की सेवा उत्कृष्ट नैतिकता है। युधिष्ठिर के सत्यवादिता तथा क्षमाशीलता नैसर्गिक गुण है। भीम क्रोध के वशीभूत रहते हैं अत: उनमें नैतिकता का अभाव है। तत्समय बहुपतीक तथा बहुपत्नीक विवाह प्रचलित थे तदनुसार पति एवं पत्नियों के अलग-अलग नैतिक कर्तव्य थे। समाज का चतुर वर्णो में विभाजन एवं प्रत्येक वर्ण द्वारा अपने धर्म का निर्वाह करने से नैतिक उत्थान संभव था। चतुराश्रम व्यवस्था के धर्म पूर्वक निर्वाह से मोक्ष की प्राप्ति संभव थी।

नारियो की स्थिति

भारतीय समाज में नारी का स्थान अतिविशिष्ट है। इनका मुख्य स्थान गृहस्थाश्रम है। स्त्री के लिये पातिव्रत धर्म का निर्वाह ही मोक्ष का साधन है। लोपामुद्रा, सुकन्या एवं सावित्री ने अपने पतिव्रता धर्म से असंभव कार्य किए। नारी में पतिव्रता उसकी त्याग और तपस्या का पुरस्कार है। पतिव्रता स्त्रिया, बिना पति के रहना, श्रृंगार व आलस्य का त्याग कर ब्रम्हचर्य व्रत धारण करना, भिक्षादान, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, आतिथ्य सत्कार आदि धर्म का पालन करती है तथा अहंकार, काम, क्रोध त्यागकर विनम्रता एवं प्रेम से पतियो व अन्याय स्त्रियों की सेवा में सुख का अनुभव करती है। नारी प्रत्येक रूपों में त्याग व तपस्या की प्रतिमूर्ति है। महाभारत में एक ओर सीता, सावित्री, दमयंती, सुकन्या, लोपामुद्रा जैसी पतिव्रता नारियों का उल्लेख है वही आज के युग के अनुसार विवादास्पद द्रौपदी, कुंती एवं तारा का भी उल्लेख है, किंतु तब भी वे आदरणीय प्रतिष्ठित थी। महाभारत की संस्कृति में नारी युद्ध में जीती जाने वाली उपभोग की वस्तु के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्षत्रियों में शारीरिक शक्ति के आधार पर पुरुष स्वामी होता है जबकि ब्राह्मण में मानसिक शक्ति के आधार पर। महाभारत में पति के अभाव को दूर करने के लिए स्त्री का पत्नी स्वरूप है। महाभारत काल तक समाज पितृसत्तात्मक हो चुका था। ताक्ष्य - सरस्वती संवाद से स्पष्ट है कि तत्समय वैदिक काल की परंपरा जीवित थी। तत्समय गार्गी जैसी विदुषी स्त्री का भी उल्लेख है। महाभारत में सामान्य वर्ग की नारियों का भी उल्लेख है जिनका मुख्य धर्म पातिव्रत था। महाभारत के प्रसंगों में कहीं भी स्त्री की छवि धूमिल नहीं होती है, वह धर्मपारायण, ईमानदार, संतुष्ट, जीवन से भरपूर तथा पत्नी एवं माता की मर्यादा निभाने वाली है।

अतिथियों की स्थिति

भारतीय समाज में अतिथि को विशेष आदर प्राप्त है। अतिथि को अग्नि तुल्य वरन महाभारत में ब्राह्मण तुल्य प्रदर्शित किया गया है। अतिथि सत्कार की क्रियाविधि मे कहीं भी विरोधाभास नहीं है। अतिथि किसी भी समय आए उसका स्वागत कर आसन दे, चरण प्रक्षालित करें, तथा मधुर वचनों के साथ भोजन से तृप्त करें। दूषित मन से आतिथ्य का परिणाम प्रतिकूल होता है। पांच प्रकार की दक्षिणाओ से अतिथि यज्ञ होता है - प्रेमभरी दृष्टि, मन से हित-चिंतन, सत्य प्रिय एवं हित युक्त मधुर वाणी, घर में उसका साथ, जाते वक्त कुछ दूर तक साथ। अतिथि सत्कार गृहस्थ का सबसे बड़ा धर्म है।

यज्ञ व दान

अपने श्रम से कमाए गए धन को किसी अन्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यय करना भारतीय संस्कृति शिक्षा है। जिस कर्म से देहशुद्धि, इंद्रियशुद्ध, अहन्कार शुद्ध, और चित्त शुद्ध होती है, कर्म का फल स्वार्थ न होकर परार्थ होता है तथा उससे नया आवरण नहीं बनता है बल्कि पूर्व का आवरण क्षीण होता है और जीव को कल्याण मार्ग में अग्रसर कर महा ज्ञान प्राप्त कराता है वही यज्ञ है। गृहस्थाश्रम को पांच महायज्ञ करने का विवेचन है। ब्रह्मयज्ञ–अध्यापन, पितृयज्ञ-तर्पण, देवयज्ञ-होम, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ-अतिथि सत्कार। यज्ञ में अग्नि को आहुति देने की प्रथा थी। आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से बृष्टि, बृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा होती है। अन्न से जीवो की सृष्टि होती है। यज्ञ से पर्यावरण संतुलन होता है। इस प्रकार यज्ञ की महत्ता जीवन के प्रत्येक पहेलू से जुड़ी हुई हैं। मनुस्मृति में उल्लेख है कि सतयुग में तप, त्रेता युग में ज्ञान, द्वापरयुग में यज्ञ तथा कलयुग मे दान को प्रधान धर्म कहा गया है। दान के छ: अंग होते हैं – दाता, प्रतिगृहीता, प्रहर, देय, काल एवम देश। वनपर्व के अनुसार दान यदि तमोगुणावृत हो तो उसका फल दुखदाई होता है। सदैव दान दरिद्र श्रोत्रिय को दिया जाए। जिसके लिए अन्न दान सर्वश्रेष्ठ है।

सदाचार

सत् से पूर्ण आचार सदाचार है। सदाचार वह सम्यक् कर्म है जो जागृत मानव को सम्यक् मार्ग एवं सम्यक् दृष्टि प्रदान करता है। मानसिक आचार के अंतर्गत शील तथा शारीरिक आचार के अंतर्गत व्यवहार आता है। शील को धर्म का पर्याय कहा जा सकता है। महाभारत में मन, वचन और कर्म से सभी प्राणियों के प्रति अद्रोह तथा अनुग्रह एवं दान को प्रशंसनीय शील बताया गया है। शील से धर्म का उदय होता है। अलग-अलग वर्णों के अलग-अलग आचार हैं। ब्राह्मण के लिए स्नान, संध्यातर्पण, स्वाध्याय, अन्नत्याग, सत्यवचन, गुरुसेवा आचार हैं। क्षत्रियों के लिए वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, यज्ञ, प्रजाजनों का पालन, संग्राम, गौ व ब्राह्मण रक्षा आचार है। वैश्यो के लिए वेदाध्ययन तथा आश्रितों की सहायता करना आचार है। शूद्रो द्वारा तीनों वर्णों की सेवा करना उसका अचार है। शिष्टाचार को धर्म का लक्षण माना जाता है। शिष्टाचार तेरह गुणों से युक्त होता है। अहिंसा, सत्यभाषण, कोमलता, सरलता, अद्रोह, अहंकार त्याग, लज्जा, क्षमा, शम, दम आदि। सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषों का धर्म तथा संतों की पहचान है। सदाचार में भावों की विशुद्ध किया जाना आवश्यक है। केवल शारीरिक आचार ही पर्याप्त नहीं है। सदाचार

जो शारीरिक हो किंतु मन द्वारा संचालित एवं निष्काम हो, वही उचित है। महाभारत में असुरों के अधर्म पथगामी होने का कारण उनमे सदाचार का अंत होना बताया गया है। महाभारत से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में मनुष्य के उत्थान या पतन का कारण सदाचार था। यक्ष द्वारा प्रश्न पूछा गया कि आचार, कुल, स्वाध्याय एवं शास्त्र श्रवण में कौन सबसे उत्कृष्ट है तब युधिष्ठिर द्वारा आचार को सर्वोत्कृष्ट बताया गया और कहा गया जिसमें संस्कार के साथ सदाचार उपलब्ध है वही ब्राह्मण है। ब्राह्मणत्व जाति का विशिष्ट गुण नहीं है बल्कि सचरित्रवान पुरुष विशेष जाति का गुण है।

महाभारत ग्रंथ में सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर उसके अंत तक का वर्णन है। महाभारत में उल्लिखित संस्कृति ही वास्तविक भारतीय संस्कृति है जिसमें वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, व्यक्ति व उसके संस्कार, परिवार, समाज, रहन-सहन, रीति, शासन-प्रशासन, राजनीति, न्याय, पुरुषार्थ, शिक्षा, कला, विज्ञान, दर्शन, संगीत, धर्म, नीति एवं सदाचार का विस्तृत उल्लेख है। भारतीय संस्कृति के मूल में ज्ञान है, संयम उसकी आत्मा है, सभी का कल्याण उसका ध्येय है, शारीरिक आचार तथा मानसिक सदाचार सर्वोत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति प्रकृति के सभी जीवो एवं निर्जीवो में संबंध स्थापित करती है। महाभारत के संबंध में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मानव जीवन के जन्म से लेकर मृत्यु तक तथा उसके आगे पीछे का विषद विवेचन करते हुए उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिए सभी युक्तियों को सन्निहित किया गया है। जैसा कि व्यास द्वारा भी कहा है कि जो महाभारत में नहीं है, वह जगत में नहीं है। महाभारत के पढ़ने से मनुष्य के ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं।

समालोचना

पुस्तक में जो शीर्षक अंकित किया गया है वह उचित प्रतीत नहीं होता है। महाभारत में जो भी संस्कृति थी वह भारत की ही संस्कृति मानी जाएगी क्योंकि महाभारत में भारत के अंदर घटित घटना क्रम का विवरण अंकित किया गया है। इस प्रकार महाभारत की संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। महाभारत में विदेशी संस्कृति का न तो उल्लेख है और न ही इसे शीर्षक में सम्मिलित करने की आवश्यकता थी। पुस्तक के आठों अध्यायो के अंत में न तो उपसंहार स्वरूप कोई टिप्पणी अंकित की गई है और न ही पुस्तक के शीर्षक के अनुसार पुस्तक के अंत में भी उपसंहार स्वरूप कोई टिप्पणी अंकित की गई है। उपशीर्षको में उल्लिखित तथ्यो को अधिकतर स्थानों मे एक ही तथ्य को दोबारा अंकित करते हुए विवेचन किया गया है जिससे पुस्तक पढ़ने के दौरान रूचि का अभाव रहता है। पुस्तक मे कई स्थानों पर अन्य लेखकों अथवा प्रवर्तको का उल्लेख करते हुए उनके विचारों के आधार पर तथ्यों की समालोचना की गयी है जबकि शीर्षक के अनुसार केवल व्यास द्वारा रचित महाभारत में उल्लिखित कथनों एवं तत्वों का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष निकाला जाना शीर्षक के साथ न्यायोचित रहता। इस पुस्तक में महाभारत की कथाओ एवं घटनाओं का सांकेतिक वर्णन करते हुए विचार किये जाने वाले विषय वस्तु के संबंध में निष्कर्ष निकाले गए हैं। वैसे तो रचनाकार द्वारा महाभारत के वनपर्व के संबंध में घटनाओं को सांकेतिक रूप से चित्रित करते हुए जो निष्कर्ष निकाले हैं वह उचित प्रतीत होते हैं किंतु जिन पाठकों ने महाभारत पढ़ रखा है उन्हें तो सांकेतिक संदर्भ अवश्य समझ में आ जाएंगे परंतु जिन पाठकों को महाभारत की घटनाओं का ज्ञान नहीं है उन्हे न तो संदर्भों की महत्ता समझ में आएगी और न ही निष्कर्ष को स्वीकार किया जा सकेगा। इस प्रकार पाठकों की भी संख्या न्यून होगी। अतः उचित होता कि जिन-जिन संदर्भों में तथ्यों की पुनरावृत्ति की गई है उन्हें यथासंशोधित करते हुए महाभारत की घटनाओं का संक्षिप्त एवं स्पष्ट विवरण देकर तदनुसार उससे निष्कर्ष निकाला जाता तो पाठ्यक्रम और सुगम तथा सुरूचिपूर्ण रहता। इस प्रकार यदि उपरोक्त कमियों का निराकरण कर लिया जाए तो पुस्तक और भी अच्छी हो सकती है।